

## अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

प्रोफेसर अतुल कुमार शुक्ला

प्रोफेसर बी०एड० विभाग

पं० जवाहर लाल नेहरू पीजी कॉलेज बाँदा

86वें संविधान संशोधन अधिनियम-2002 के अनुसार राज्य को 6 से 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिए निशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की विधिसम्मत व्यवस्था करने का दायित्व दिया गया था। बाजपेई की राजग सरकार ने अपने कार्यकाल के दौरान अविलम्ब शिक्षा के अधिकार के अनुपूरक विधेयक पर कार्य प्रारम्भ कर दिया। साथ ही साथ सर्वशिक्षा अभियान के माध्यम से नामांकन तथा ठहराव को सुनिश्चित करने के प्रयास भी तीव्र कर दिये। यद्यपि अनुपूरक विधेयक पर पहले ही विधि आयोग ने कार्य आरम्भ कर दिया था तथा सरकार को प्रस्तुत अपनी 165वीं रिपोर्ट में इसका प्रारूप भी संलग्न कर दिया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ सरकार की मंशा 86वें संविधान संशोधन अधिनियम-2002 के पारित हो जाने के बाद अनुपूरक अधिनियम को पारित करने की थी, वहीं विधि आयोग की राय इसके विपरीत पहले अनुपूरक अधिनियम को लागू करने की थी, जबकि मौलिक अधिकार बनाये जाने के प्रश्न को बाद में भी सुलझाया जा सकता था। हालाँकि ऐसी स्थिति में अनुपूरक कानून का महत्व 60 के दशक के आदर्श अनिवार्य शिक्षा अधिनियम जैसा ही रह जाने संभावनाएँ ज्यादा थीं।

विधि आयोग के प्रयत्न के तारतम्य में बाजपेई सरकार ने सितम्बर 2003 में मुप्त तथा अनिवार्य शिक्षा का एक विधेयक तैयार किया, जिसे पुनः 2004 में संशोधित किया गया। तथापि सरकार बदल जाने से यह मामला अगले करीब 6 वर्षों के लिए लटक गया। जुलाई 2005 में डा० मनमोहन सिंह की संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (UPA) सरकार ने CAGE के नेतृत्व में NIEPA के सहयोग से एक सर्वथा नया अनुपूरक विधेयक तैयार किया तथा इस बिल को पुनः 2006 में संशोधित किया गया। किन्तु CAGE के इस बिल को आम सहमति नहीं मिल पाने के कारण लागू नहीं किया जा सका। मई 2009 में संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (UPA) ने दूसरी बार डा० मनमोहन सिंह के नेतृत्व में सरकार बनायी और अंततः 01 अप्रैल 2010 को मुप्त तथा अनिवार्य शिक्षा अधिनियम-2008 को लागू कर दिया गया।

संप्रति सरकारी मशीनरी अनुपूरक अधिनियम से तालमेल बैठाने का प्रयास कर रही है, जबकि 86वें संविधान संशोधन अधिनियम-2002 के प्रवर्तन की घोषणा अभी भी लम्बित चल रहा मुद्दा है। इस बीच भारत सरकार ने 9 फरवरी 2004 की राजपत्रित अधिसूचना के माध्यम से बच्चों के लिए राष्ट्रीय चार्टर-2003 की आधिकारिक घोषणा अवश्य की है। सरकार ऐसी अनुकूल परिस्थितियों की प्रतीक्षा कर रही है, जबकि 86वें संविधान संशोधन अधिनियम-2002 को अधिसूचित कर प्रवर्तित किया जा सके। इस संदर्भ में निम्न पत्रांश सरकारी असमंजस का सुंदर उदाहरण है—

“ संविधान (छियासीवां संशोधन) अधिनियम 2002 का खण्ड 1(2) कहता है कि यह उस तारीख से लागू होगा, जिसकी अधिसूचना केन्द्रीय सरकार सरकारी गजट में जारी करेगी। 86वें संविधान संशोधन को बाध्यकारी बनाने में काफी देरी हो चुकी है। जब तक 86वाँ संविधान संशोधन बाध्यकारी नहीं बनाया जाता तब तक 0-14 आयु समूह के बच्चों को अपने दायरे में लाने वाला सुप्रीम कोर्ट का उन्नीकृष्णन प्रकरण में दिया गया फैसला देश में कानून के रूप में लागू है। अतः 86वें संविधान संशोधन, जिसके दायरे में 6-14 आयु समूह के बच्चे आते हैं, को सरकारी गजट में अधिसूचना जारी करने बाध्यकारी बनाना एक तात्कालिक जरूरत बन गई है।”

उपरोक्त पत्र में व्यक्त सरकारी ऊहापोह स्पष्ट रूप से 86वें संविधान संशोधन अधिनियम-2002 को प्रवर्तित करने के बाद उत्पन्न होने वाली स्थितियों के आकलन की जटिलताओं को इंगित कर रही हैं।

शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने की शुरुआत भले ही शिक्षा की कृत्रिम माँग तथा राज्य प्रायोजित दायित्व के रूप में हुई हो, परन्तु इसकी परिणति मौलिक अधिकार के रूप में हुई। शिक्षा के अन्तर्निहित महत्व के कारण इसके आरम्भिक लाभान्वित समूहों ने अपनी सशक्त आर्थिक-सामाजिक प्रस्थिति के बल पर इसकी माँग की, ताकि राजनीतिक वर्चस्व भी स्थापित किया जा सके। यही कारण है कि 1850 से 1950 तक करीब एक सदी के दौरान शिक्षा से लाभान्वित समूहों में आर्थिक-सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से समर्थ वर्गों का वर्चस्व बना रहा। राजनीतिक सत्ता पर वर्चस्व स्थापित करने के लिए ऐसे लाभान्वित समूहों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन को नेतृत्वकारी भूमिका प्रदान की तथा व्यापक जनाधार बनाने के लिए अनेक लोकप्रिय माँगों तथा कार्यक्रमों को अपने राजनीतिक ऐजेंडे में स्थान दिया। आमतौर पर यह समझा गया कि ये समूह सत्ता पाकर वंचित वर्गों के कल्याण के लिए कार्य करेंगे। 1920-1945 के दौरान विशेष रूप से अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों के रूप में ऐसे पर्याप्त प्रयत्न किए भी गए।

आजादी के बाद सत्ता हस्तगत करते ही वर्चस्वशाली समूहों के पुनर्निर्माण के ऐजेंडे से निरक्षरता तथा प्रारम्भिक शिक्षा के मुद्दे छिटकने लगे। ब्रिटिश शासन के दौरान अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों को जोर-शोर से लागू करने वाले लोकप्रिय ऐजेंडे के समर्थकों ने इसे राज्य का अनिवार्य दायित्व बनाने का प्रयत्न तो किया, किन्तु स्वतन्त्र भारत की संविधान सभा में इसे चुपके से अधिकारों की श्रेणी से हटाकर राज्य नीति के ऐसे गैर-वाद योग्य निर्देशक सिद्धान्तों में स्थापित कर दिया गया, जिसे लागू करने के लिये राज्य को बाध्य नहीं किया जा सकता था। वार्षिक बजटों में शिक्षा विषयक प्रावधान अपर्याप्त थे, और उनका भी दिशा प्रवाह माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा की ओर था। आजादी के बाद शिक्षा की किसी सुस्पष्ट और आधिकारिक नीति के अभाव में प्राथमिक शिक्षा के अधिकतम संभव विस्तार की 1911 की ब्रिटिश नीति तथा मानसिकता ही शैक्षिक पुनर्निर्माण के महत्वपूर्ण वर्षों में छाया रही।

शिक्षा से लाभान्वित वर्चस्वशाली समूहों को अपने निर्विवाद लोकतांत्रिक आधार तथा प्रस्थिति को सुनिश्चित करने की दिशा में निरक्षरता तथा प्रारम्भिक शिक्षा के संकुचित आधार का राजनीतिक महत्व अच्छी तरह समझा आ गया था। वर्चस्वशाली वर्गों के करिश्मायी नेतृत्व, विपक्ष की कमजोर और विभाजित उपस्थिति तथा केंद्र व राज्यों में एक दलीय वर्चस्व के चलते सत्तारूढ़ वर्गों के पुनर्निर्माणकारी ऐजेंडे को कोई सफल चुनौती, पर्याप्त देरी से 70 के दशक में दी जा सकी। वर्चस्वशाली वर्गों की लोकतांत्रिक किस्म की तानाशाही के विरुद्ध न्यायालय की प्रतिष्ठा तथा संविधान की सर्वोच्चता स्थापित होने के साथ ही जनचेतना का अभूतपूर्व विकास हुआ। जिसके चलते अंततः अपने सत्ताधार को बनाये रखने की जुगत में वर्चस्वशालियों के लिये वंचित वर्गों के हित में कार्य करना मजबूरी बन गया। इसलिए 80 के दशक में व्यापक शैक्षिक अभियान सहित तमाम कल्याणकारी कार्यों के बावजूद 90 के दशक के बहुध्रुवीय राजनीतिक परिदृश्य के पदार्पण को रोका नहीं जा सका। राष्ट्रीय दलों के बरक्स क्षेत्रीय दलों की रातों-रात अभिवृद्धि ने स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक चलने वाली विकास की योजनाओं में वंचित वर्गों की माँगों तथा उनके ऐजेंडों का समायोजन किया जाना अपरिहार्य बना दिया।

वर्चस्वशाली वर्गों के प्रतिरोध के बावजूद न्यायिक सक्रियता तथा सशक्त क्षेत्रीय जनाधार रखने वाले राजनीतिक दलों की केंद्र में बनने वाली गठबंधन सरकारों की प्रयत्नशीलता से शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने में सफलता मिली, जिसके लिये वंचित वर्गों की राजनीतिक चेतना तथा संगठन ने आवश्यक दबाव निर्मित किया। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि जहाँ न्यायिक निर्णय 43 वर्ष पुरानी पवित्र इच्छा को यथारूप लागू करने के पक्ष में था, वहीं सरकारी दृष्टिकोण की संकीर्णता के चलते 0-6 वर्ष के बच्चों को वैधानिक रूप से शिक्षा के अधिकार से वंचित कर दिया गया। वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति के वर्तमान स्तर को देखते हुए आज कक्षा 8 तक की शिक्षा का महत्व काम चलाऊ साक्षरता से ज्यादा नहीं रह गया है। शिक्षा के मौलिक अधिकार को कानून बनाने के बावजूद पिछले 8 वर्षों से उसे लागू करने का निर्णय लम्बित

रखना इस बात का संकेत है कि कहीं न कहीं यह मुददा वर्चस्वशाली बनाम वंचित वर्गों के साथ-साथ वयस्क बनाम बच्चों का मुददा भी है, जिसमें नागरिक होने के बावजूद बच्चों की पहचान एक सशक्त राजनीतिक समूह के रूप में न होने के कारण, बाल अधिकारों की सुनिश्चित प्राप्ति वयस्कों के रहमो-करम पर निर्भर है। परंपरागत भारतीय समाज में जनता की शिक्षा कभी भी शासक वर्ग या राज्य का दायित्व नहीं रही, इसलिए इसका उद्विकास विशुद्ध सामाजिक जरूरतों को पूरा करने के लिए समाज के भीतर से हुआ। 1813 के चार्टर के माध्यम से शिक्षा के सरकारीकरण के प्रयास ने भारतीय शिक्षा के सदियों से चले आ रहे सार्वभौमिक चरित्र को वर्गीय चरित्र में परिवर्तित कर दिया। जबकि तत्कालीन यूरोप और अमेरिका में यह विचार करीब 2 दशक बाद लाया जा सका। भारत में पश्चिमी किस्म की शिक्षा की माँग कोई स्वाभाविक माँग न होकर इंग्लिसिस्टों के प्रभाव में विकसित कृत्रिम माँग थी, जिसे प्रदान करने का दायित्व भी सरकार ने कृत्रिम रूप से अपने ऊपर ले लिया। शिक्षा की इसी कृत्रिम माँग के मूल में शिक्षा के अधिकार की स्वाभाविक माँग के बीज छिपे थे। असम्बद्ध लोगों ने, जिन्हें शैक्षिक कार्यों का कोई पूर्व अनुभव नहीं था, उन लोगों के लिए जिन्होंने इसकी कोई माँग नहीं की थी, उन्हीं की ओर से, बिना किसी प्रतिनिधित्व के, इस प्रावधान को निर्मित किया तथा इसके क्रियान्वयन का दायित्व उस ऐजेंसी को सौंप दिया, जो कल्याणकारी कार्यों के विरुद्ध सदा अराजक तथा सभ्य समाज में घृणित समझे जाने वाले और कानून के शासन के विपरीत कार्यों में करीब 200 वर्षों का अनुभव प्राप्त कर चुकी थी। अपने समय के सर्वाधिक प्रगतिशील ब्रिटिश बुद्धिजीवी भारत की पिछड़ी हुई सार्वभौमिक शिक्षा के मुकाबले संकीर्ण तथा वर्गीय चरित्र की प्रगतिशील शिक्षा का विचार लाये तथा संसाधनों की सीमितता का हवाला देकर अपने संप्रभु दायित्वों की पवित्र पूर्ति की। 1833 के चार्टर ने भारत के लिए प्रतिनिध्यात्मक सरकार के विचार को खारिज कर दिया था तथा बिना किसी माँग के भारतीयों को कृत्रिम रूप से समानता के अधिकार को उसके प्राक् रूप में प्रदान किया। परन्तु जब भारतीयों के शैक्षिक भविष्य को तय किया जा रहा था, तब भारतीय दृष्टिकोण को न तो सामने रखा गया और न ही इसकी जरूरत महसूस की गई। क्योंकि न माँग थी, न राजनीतिक दल, न किसी किस्म का लोकतन्त्र तथा इसलिए न ही भारतीयों का कोई प्रतिनिधित्व। भारतीयों के लिए जनसाक्षरता की कोई योजना पहले-पहल बंगाल के विलियम एडम्स ने प्रस्तुत की। 1854 के चार्टर के बाद भारत में एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था का ढाँचा उभरा, जिसमें जनशिक्षा की परम्परागत व्यवस्था को कम्पनी की जरूरतों के मुताबिक ढाल कर, जनता के पैसे से जनशिक्षा की एक ऐसी योजना को कार्यरूप दिया जाने लगा, जोकि पूर्णकालिक रूप से निस्संदन सिद्धान्त पर आधारित थी और चारित्रिक दृष्टि से सार्वभौमिक न होकर वर्गीय थी। रैय्यत के लिए अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा की माँग पहली बार 1869 में महादेव गोविन्द रानाडे तथा जैम्स मैक्लीन ने की। हण्टर कमीशन से पूर्व जहाँ सरकारी नीति जनशिक्षा की थी, वहीं आधिकारिक दृष्टिकोण तथा भद्रलोक का दबाव शिक्षा के वर्गीय स्वरूप एवं चरित्र को बनाये रखने का था। वे जनशिक्षा की कीमत पर अपनी प्रगति को सुनिश्चित कर रहे थे। ब्रिटिश संसद जिस अनुपात में यूरोप में उदारवादी थी, उसी अनुपात में उसका भारतीय शासन रुढ़िवादी था। जिसके चलते कल्याण, सुधार तथा विकास के कार्यक्रमों के पर्याप्त यूरोपियन अनुभवों के बावजूद वह भारत के विकास के प्रति अनिच्छुक ही रही। ब्रिटेन में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा अधिनियम-1870 में लागू कर दिया गया, मगर भारत के लिए हण्टर कमीशन ने इसकी आवश्यकता को ही खारिज कर दिया। सरकार की जनसामान्य से भावात्मक निकटता स्थापित करने में असफलता के कारण ही ब्रिटेन की तुलना में भारत में शिक्षा का दायित्व कहीं पहले स्वीकार करने के बावजूद सरकार की शैक्षिक सक्रियता में गंभीर विचार-विमर्श का अभाव रहा। ब्रिटिश शासन का उद्देश्य अपनी तमाम उदारवादी, विकासवादी, सुधारवादी तथा कल्याणकारी सोच के बावजूद भारत को पिछड़ा तथा अविकसित बनाये रखने की दिशा में नीतियों का क्रियान्वयन था, जिसके लिए नवोदित तथा नवशिक्षित मध्यम वर्ग का सहारा लिया गया। सरकार हर उस चीज की विरोधी थी, जो सरकार

को सीमित या संकुचित करे, जैसे जनशिक्षा तथा बाद में काँग्रेस के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तन। निरस्यंदन सिद्धांत के तहत जिन प्रबुद्ध भारतीयों के भरोसे शेष भारतीयों की शिक्षा को छोड़ दिया गया था, उन भारतीयों को शिक्षा के क्षेत्र में जो औपनिवेशिक उत्तराधिकार प्राप्त हुआ, उससे ये वर्ग ब्रिटिश शासन से एक कदम आगे नहीं बढ़े।

शिक्षा को लेकर पूरी बहस में मुद्दा सदैव विशिष्टवर्गीय शिक्षा बनाम जनशिक्षा का रहा जबकि एक वर्ग के रूप में बच्चे इस बहस से बाहर थे। तत्कालीन समाज की सामाजिक चेतना के अभाव में बच्चों की शिक्षा एक मुद्दा बनने में असफल रही, क्योंकि भारतीय समाज में निरीहता क्रम में वे महिलाओं से भी कई कदम पीछे थे। बच्चों को पहली बार 1881 के फैक्टरी एक्ट के माध्यम से एक वैधानिक विषय के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। 1885 से भारत में लोकतन्त्र, यदि वह किन्हीं भी मायनों में ब्रिटिश संसद द्वारा भारत में प्रायोजित किया गया था, के अनुकूल संगठित राजनीतिक गतिविधियों का सूत्रपात हुआ। भारत में शिक्षा का वर्गीयचरित्र एक ऐसे भद्रलोक को आकार दे रहा था, जो प्रकटतः जनता की माँग को सामने रख, प्रच्छन्न रूप से वर्गीय हितों को साधने के लिए उद्यत था। जिसके लिए अंग्रेजी शिक्षा राजनीतिक अधिकार माँगने तथा उसे सुनिश्चित रूप से पाने का साधन थी। सरकारी हलकों में आम आदमी का कोई राजनीतिक प्रतिनिधित्व नहीं होने के कारण भद्रलोक सरकारी नीतियों को अपने पक्ष में मोड़ने में सफल रहा। बड़ौदा रियासत के महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने अमरेली तालुके में 1893-94 में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को लागू किया। काँग्रेस के 1904 के अधिवेशन में पहली बार प्राथमिक शिक्षा पर खर्च बढ़ाने की माँग की गई। नेतृत्व के स्तर पर यह पाया गया कि बिना राजनीतिक तथा प्रतिनिध्यात्मक भूमिका विस्तार के, शिक्षा के क्षेत्र में कोई भी सुधार करना संभव नहीं है। निरस्यंदन सिद्धान्त से उपजा बिचौलिया वर्ग आशा के विपरीत ब्रिटिश विरोधी निकला। लार्ड कर्जन के नियन्त्रण के बरक्स पहली बार शिक्षा के मुद्दे का राजनीतिकरण हुआ। जनहित के नाम पर शिक्षा को नियन्त्रित करने वाली सरकार ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को सिरे से खारिज कर दिया। 1906 में अनिवार्य शिक्षा को लागू करने की पहली संगठित माँग बम्बई के सर चिमणलाल सेतलवाड़ तथा सर इब्राहिम रहीमतुल्लाह ने की। 1909 के मार्ले-मिन्टो सुधारों ने वर्गीय व हित समूहों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया तथा उन्हें पहली बार केन्द्रीय व प्रांतीय विधान परिषदों में सार्वजनिक हित के विषयों पर प्रस्ताव पेश करने, पूरक प्रश्न पूछने और मत देने का अधिकार प्रदान किया। इसी विधायी गुंजाइश के चलते गोखले के शिक्षा विषयक प्रस्तावों का मार्ग प्रशस्त हुआ। 1910 के गोखले बिल के निरस्त होने का मूल कारण असेम्बली में गैरसरकारी सदस्यों के मुकाबले सरकारी सदस्यों का बहुमत होना था। गोखले के प्रयत्नों से पहली बार शिक्षा को मुख्यधारा के राजनीतिक मुद्दों में एक अहम स्थान मिला और जनशिक्षा को लेकर सरकार के समानान्तर, नेतृत्व के स्तर पर स्वतन्त्रता और गंभीरता से सोचा जाने लगा, जिससे शिक्षा के क्षेत्र में राजनीतिक सक्रियता तथा विधायी हस्तक्षेप की शुरुआत हुई। 1919 के अधिनियम में भविष्य की व्यापक तथा विस्तृत राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक माँगों के बीज निहित थे, जिसकी सार्वभौमिक प्रकृति होने के बावजूद स्वरूप तथा चरित्र वर्गीय ही रहा। शिक्षा अभी मध्यमवर्गीय माँग के खाँचे से निकल कर जनसामान्य की माँग नहीं बन सकी थी, क्योंकि भारतीय नेतृत्व राजनीतिक अधिकारों के लिए अधिक संघर्षशील था। द्वैध शासन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि भारतीय मंत्रियों द्वारा प्रान्तों में सार्वभौमिक, निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी विधेयक पारित कराना था। इस दृष्टि से यह युग शिक्षा के क्षेत्र में विधायन का युग था। जिसके चलते विभिन्न रियासतों में भी तत्सम्बन्धी अधिनियम पारित किये गये।

राजनीतिक चेतना को बढ़ाने वाले तत्व के रूप में साक्षरता तथा प्राथमिक शिक्षा की पहचान के साथ-साथ अधिकारों के प्रति जनता की बढ़ती माँग को नियन्त्रित करने के लिए प्राथमिक शिक्षा को जानबूझ कर अनदेखा किया गया, ताकि इस प्रकार के सामाजिक-राजनीतिक उभार का गर्भपात हो जाए। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मार्क्सवादी प्रभाव एवं

औपनिवेशिक विरोध के चलते व्यक्ति के राजनीतिक-सामाजिक अधिकारों की माँग बलवती हुई, जिससे दलितों तथा महिलाओं सहित हाशिये पर पड़े अनेक सामाजिक समूहों की राजनीतिक महत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। 1937 से 1940 के दौरान काँग्रेसी सरकारों को प्रान्तों में शिक्षा को लेकर कार्य करने का सीमित अवसर मिला, जिससे अनिवार्य शिक्षा में हुई प्रगति असंतोषजनक होने के साथ-साथ असंतुलित भी रही। सार्जेंट रिपोर्ट ने गाँधी जी की 07 वर्षीय बेसिक शिक्षा के बरक्स 08 वर्षीय निःशुल्क, सार्वभौमिक तथा अनिवार्य शिक्षा की प्रगतिशील अवधारणा का सूत्रपात किया, किन्तु फिर भी यह राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था के वर्गीय चरित्र के सुदृढीकरण की योजना ही सिद्ध हुई। जिसने प्रारम्भिक शिक्षा जनमानस के लिए तथा उच्च शिक्षा विशिष्ट वर्गों के लिए का नारा दिया।

संविधान सभा में शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने की माँग का ह्रास चरणबद्ध ढंग से हुआ। मौलिक अधिकारों में अनुच्छेद-08 से आरम्भ हुई शिक्षा के अधिकार की यात्रा नीति निर्देशक तत्वों में अनुच्छेद-45 के रूप में थम गई। संविधान सभा ने ही शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने की माँग को स्थगित कर दिया। संविधान सभा की बहसों में राष्ट्र निर्माण की महत्वाकांक्षी परियोजना में शिक्षा को केन्द्र सरकार का दायित्व न बनाने पर बल दिया गया तथा न केवल शिक्षा के अधिकार का विगलन किया गया, अपितु उसे राज्य सूची का विषय बनाये रखा गया। संवैधानिक रूप से बेहद सशक्त तथा विधायन के स्तर पर बेहद विस्तृत किस्म की तैयारी के बावजूद प्रारम्भिक शिक्षा को मुफ्त, अनिवार्य तथा सार्वभौमिक बनाने के लक्ष्य का उत्तरोत्तर विगलन तथा विघटन किया गया। औद्योगिक, वैज्ञानिक तथा तकनीकी पुनर्निर्माण की योजनाओं में जबकि आधार तथा आधारभूत ढाँचे को दुरुस्त कर विकास की प्रक्रिया को गति दी गई, वहीं शिक्षा के क्षेत्र में इसका ठीक उल्टा हुआ, आधार को खण्डित रूप में राज्यों के हवाले कर पुनर्निर्माण की शुरुआत शैक्षिक पिरामिड की चोटी से की गई। योजना आयोग द्वारा नियोजित तथा संतुलित विकास के लक्ष्य से पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण ने न केवल शिक्षा के अधिकार की माँग को अस्तित्वहीन कर दिया, बल्कि अनिवार्य शिक्षा अधिनियमों तथा तद्विषयक करीब आधी सदी की जद्दो-जहद् का भी पटाक्षेप कर दिया। संविधान के अनुच्छेद-45 ने नेतृत्व से लेकर प्रशासन तक अनिवार्य शिक्षा विषयक एक ऐसी निश्चितता को उत्पन्न किया कि सरकार से लेकर आम आदमी के स्तर तक अनिवार्य शिक्षा विषयक कानून तेजी से विस्मृत होने लगे। प्रारम्भिक शिक्षा के प्रति उदासीनता के कारण उस वर्गीय सोच में थे, जिनकी राष्ट्र निर्माण की महत्वाकांक्षी योजना में वंचितों की शिक्षा कोई मुद्दा थी ही नहीं। राजनीतिक शक्ति की माँग तथा वितरण की सफल बाधा के रूप में निरक्षरता को बनाये रखना वर्चस्वशालियों की स्थिरता तथा स्थायित्व के लिए जरूरी समझा गया। पहली बार शिक्षा पर संसद सदस्यों की समिति की रिपोर्ट-1967 (रा10शि0नी0) में प्रारूप समिति के सदस्य श्री ए0ई0टी0 बैरो ने समान विद्यालय व्यवस्था के विरुद्ध शैक्षिक अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायिक निर्णयों, मानवाधिकारों की घोषणा तथा मौलिक शैक्षिक अधिकारों की समेकित तर्क योजना का प्रयोग किया। 42वें तथा 44वें संविधान संशोधन अधिनियमों से शिक्षा राज्य सूची से समवर्ती सूची का विषय बनी। न्यायिक हस्तक्षेप से अनुच्छेद-21 की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अक्षुण्णता तथा विस्तार का मार्ग प्रशस्त हुआ और मौलिक अधिकारों व नीति निर्देशक सिद्धान्तों की अन्योन्याश्रित रचनात्मक व्याख्या का सिद्धान्त स्थापित हुआ। प्रथम वैकल्पिक विचारधारा के राजनीतिक प्रयोग ने असफलता के बावजूद वर्चस्वशाली वर्गों को भावी राजनीति में जनाधार बनाये रखने के लिए जनवादी नीतियाँ अपनाने का प्रभाव तथा महत्व अच्छी तरह समझा दिया, जिसका वंचित वर्गों की अधिकारों की माँग पर सकारात्मक असर पड़ा। 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में पहली बार शिक्षा को सामाजिक-आर्थिक पुनरुत्थान की प्रक्रिया के अनिवार्य अंग के रूप में देखा गया, जिसका पूरा शैक्षिक परिदृश्य बाल केन्द्रित था। मतदान में बेहतर भागीदारी तथा वैधानिक संस्थाओं में बेहतर जनप्रतिनिधित्व के चलते वंचित वर्गों के मुद्दों का राजनीतिक महत्व बढ़ा। सरकारी उदासीनता के शिकार तथा शिक्षा व्यवस्था से वंचित वर्गों तथा उनके

बच्चों के संदर्भ में शिक्षा के मौलिक अधिकार का सामाजिक महत्व उजागर हुआ। 1989 में बाल अधिकारों की कन्वेंशन इस बात की पुष्टि करती है कि मानवाधिकारों के एक लक्ष्यभूत समूह के रूप में बच्चे न तो मानवाधिकार के दायरे में आ पाते हैं और न ही मानवाधिकारों की घोषणा उनके मुद्दों को पूरी तरह सम्बोधित करती है। बाल अधिकारों खासकर प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र में गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा 1910 में मुफ्त तथा अनिवार्य शिक्षा की मांग के बाद, आचार्य राममूर्ति समिति की शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने की अनुशंसा, मील का दूसरा बड़ा पत्थर थी। जब न्यायालय नीति निर्देशक सिद्धान्तों के परे शिक्षा को मौलिक अधिकार घोषित कर रहे थे, विभिन्न राज्य क्रियान्वयन का कोई प्रभावी तरीका विकसित किए बिना ही अप्रचलित हो चले अनिवार्य शिक्षा अधिनियम पारित कर रहे थे और शोध बता रहे थे कि सर्वशिक्षित 95 प्रतिशत शैक्षिक प्रशासक इनके अस्तित्व से भी अवगत नहीं थे।

सत्तारूढ़ वर्चस्वशाली वर्गों ने अपने घोषित राजनीतिक एजेंडे के बरक्स जब भी नीति निर्देशक तत्वों को बाधक पाकर उदासीनता का रुख अपनाया चाहा, उन्होंने निर्देशक तत्वों के गैर न्याय योग्य होने, आर्थिक और संसाधनीय सीमाओं तथा अनुच्छेद-37 के तहत इन्हें लागू न करवा पाने की न्यायिक सीमाओं का हवाला दिया। न्यायिक निर्णयों से उत्पन्न धर्मसंकट के समय सत्तारूढ़ वर्चस्वशाली समूहों के वैधानिक प्रयत्न न्यायिक निर्णयों से अधिक तथा बेहतर प्रावधान करने की बजाय न्यायिक निर्णयों में प्रभावी कतर-ब्यौत के अधिक रहे, ताकि वोट बैंक भी सुरक्षित रहे और न्यायिक अवहेलना भी न हो। संविधान लागू होने के बाद नागरिकों को मिलने वाला शिक्षा का एकमात्र मौलिक अधिकार संसद की बजाय न्यायिक प्रयत्नों का परिणाम था। भारत की सर्वाधिक अस्थिर तथा अस्थायी सरकारों के प्रयत्नों से शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाया जा सका। जबकि संविधान संशोधन का श्रेय उस वैकल्पिक विचारधारा को जाता है, जिसने भारत को पहली सफल, स्थिर तथा गठबंधन सरकार दी। बच्चों से सम्बन्धित मुद्दों की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि वे न तो वयस्क हैं और न ही अधिकारों का दावा प्रस्तुत करने में सक्षम नागरिक। ऐसे में संघर्ष का मूल मुद्दा राज्य बनाम परिवार, समाज या बच्चे न होकर वयस्क बनाम बच्चे हैं।

#### सन्दर्भ

1. भारत सरकार (2002) संविधान के कामकाज की समीक्षा करने के लिए राष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट में सदस्यों (असहमति) के नोट्स, खंड-1 अध्याय-3 विधि, न्याय और कंपनी मामलों के मंत्रालय, दिल्ली,
2. 86वां संविधान संशोधन अधिनियम-2002
3. यूनिसेफ (2004) भारत के बच्चों का मानचित्रणरू यूनिसेफ इन एक्शन, संयुक्त राष्ट्र बाल कोष, दिल्ली, भारत।
4. भारतीय विधि आयोग (1998) बच्चों के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा पर एक सौ पैंसठवीं रिपोर्ट, दिल्ली, भारत, अनुलग्नक-ए।
5. एनयूईपीए (2008) में पुनरुत्पादित शिक्षा में और उसके लिए बाल अधिकार प्रबंधन पर कार्यशाला, 14-18 जनवरी, 2008 पठन सामग्री, एनयूईपीए, दिल्ली.
6. पत्र सं० एफ०एन० 1-1/2008 ई० 4, फरवरी 2008 (गोपनीय), मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा अनुपूरक विधेयक 2008 के प्रारूप के साथ संलग्न पत्र, जोकि मंत्रीमंडलीय सचिवालय, भारत सरकार को फरवरी 2008 में प्रेषित किया गया। उद्धरण के लिए देखें सद्गोपाल, अनिल (2009) : संसद में शिक्षा का अधिकार छीनने वाला बिल, किशोर भारती, भोपाल, भारत, आवरण पृष्ठ।